पेरिस
जनवरी ३०, २००६

सन्देश संख्या १५६

समझदारी की ऊर्जा के विध्वंसक तत्व

एकसठ वर्ष पूर्व आज ही के दिन (३० जनवरी १६४८), महात्मा गाँधी की हत्या हुई थी ।

ध्यान भ्रम–लोक में की गई कोई कल्पना की उड़ान नहीं है बल्कि 'जो है' को देखना और उसके परे मृत्यु के आयाम में प्रवेश करना ध्यान है । इसे ही समाधि भी कहते हैं । मृत्यु में भी शरीर की पूर्णरूपेण समाप्ति हो जाती है और समाधि में भी ऐसा ही घटित होता है । समाधि में चित्त स्थित मिथ्या विभाजन का पूर्णतया विलय हो जाता है और वह अपरिवर्तनीय होता है ।

समाधि मनुष्य के मन के अधीन की कोई मूर्खतापूर्ण गतिविधि नहीं है जिसे परम्परा की विडम्बना के कारण सम्मान और समादर दिया जाता है । यह तो नित्य नूतन किन्तु विध्वंसकारिणी होती है । इसे विचार या स्मृति से उत्पन्न नहीं किया जा सकता ।

जिस तरह तुम मृत्यु से तर्क नहीं कर सकते, उसी तरह तुम ''मैं'' की अज्ञानता में समाधि को नहीं लुभा सकते । समाधि और मृत्यु एक ही सिक्के के दो पहलू हैं जो तुम्हारे 'त्वं–भाव' की मृत्यु का साक्षी होते हैं और उसका स्वागत करते हैं । किन्तु तुम (अर्थात् मन) अत्यन्त चालाक हो । तुम चैतन्य के इस निमन्त्रण का कोई उत्तर नहीं दोगे । तुम ध्यान का पाखण्ड करोगे और उसे विकृत करोगे क्योंकि वह बहुत लाभदायक होगा ।

समाधि में सद्‌गुण और भगवत्ता पुष्पित होती है । यह समझदारी की वह विस्फोटक ऊर्जा है जो तुम्हें मन की समस्त सीआमों से परे भगवत्ता का संस्पर्श प्रदान करती है ।

शिवेन्दु के शरीर के माध्यम से मनुष्यों में जिस समझदारी की ऊर्जा का प्रसार हो रहा है, उसके विध्वंस के लिए प्रदूषित एवं विभ्रान्त मानव–मन द्वारा सदैव उसको धमकी दी जाती है ।

पिता श्री सत्यचरण के १६८७ में देहान्त के बाद से उनके दो तथाकथित शिष्य इस ऊर्जा के विध्वंसक बन चुके हैं, जिनमें एक गोवर्धन और दूसरा कोलकाता में है । लगभग दस वर्षों पूर्व कुछ विध्वंसक मॉट्रीयल (कनाडा), वाशिंगटन डी सी (अमेरिका), स्पेन, नीदरलैंड और इटली में भी उत्पन्न हुए थे। किन्तु कतिपय शुभचिन्तकों द्वारा जो इस ऊर्जा का स्पर्श पा चुके हैं, सही समय पर सही कार्य किए जाने के कारण इसकी हत्या नहीं हो सकी ।

कुछ दिनों पूर्व, दो विध्वंसकों ने सिर उठाया था – एक बुल्गारिया में और दूसरा सत्यलोक, वाराणसी में । किन्तु स्वाध्याय की समझदारी रूपी ऊर्जा को उपलब्ध लोगों द्वारा उन दोनों का प्रभावी रूप से शमन कर दिया ।

इस सम्बन्ध में, एक क्रियावान पिता द्वारा अपने क्रियावान पुत्र को लिखा गया एक पत्र भी प्रस्तुत किया जा रहा है, जो रोचक और प्रासंगिक है –

ध्यातव्य :– (जब पुत्र (एक शिष्य) ने एक भारतीय क्रियावान से सम्बन्धित घटना के बारे में पढ़ा जिसमें गुरु द्वारा किए गए विश्वास को उस भारतीय क्रियावान ने तोड़ा था, तब उसने पिता से एक प्रश्न पूछा था । पुत्र को दिया गया उत्तर ही यह सन्देश है । समझदारी महत्वपूर्ण है न कि व्यक्तित्व, अतः नामों के स्थान पर प्रतीक रूप में 'क' और 'ख' लिखा गया है ।)

प्रिय पुत्र,

कल तुमने पूछा था कि ''भारत के 'ख' से सम्बन्धित यह दूसरी घटना है जबकि इसी तरह की पहली घटना बुल्गारिया के 'क' से सम्बन्धित है । क्या क्रियायें व्यक्ति के गुणों का केवल दमन करती हैं और जब किसी दिन वे दमन में असफल हो जाती है तब वे गुण पुनः प्रभावी हो जाते हैं ?''

मैंने कल तुम्हारे प्रश्न का जो उत्तर दिया था, उसे आज थोड़ा और विस्तार दे रहा हूँ ।

गुण मानव–मन की स्वाभाविक लक्षण और प्रवृत्तियाँ हैं । वे मनुष्य में जन्म से ही उपस्थित रहते हैं । फिर बाद में, समस्त प्रकार के अनुभव जमा होकर अनुबन्धन उत्पन्न करते हैं और गुणों को आंशिक रूप से परिमार्जित करते हैं ।

दूसरी तरफ, क्रियायोग में 'स्वाध्याय' अर्थात् ''मैं'' की गतिविधियों को जानना, 'तप' अर्थात् शरीर को स्वाभाविक रूप से कार्य करने देना और 'ईश्वर प्रणिधान' यानी कि स्थितप्रज्ञता की अवस्था को उपलब्धता होना, ये तीनों अर्थात् क्रियायोग गुणों को मूल रूप से परिवर्तित करता है, न कि उनका दमन या परिमार्जन करता है ।

लेकिन विडम्बना यह है कि गुरु के उद्‌गारों को तथाकथित क्रियावान द्वारा जीवन के साथ सुना ही नहीं जाता है । उन्हें तो मन में स्थित भूतकाल के पूर्वाग्रहों एवं दबावों द्वारा या तो स्वीकार किया जाता है या फिर पूर्णतः अस्वीकार कर दिया जाता है । इसी कारण, क्रियावान की दीक्षा–प्रक्रिया के अन्तर्गत दीक्षा पूर्व वार्ता के दौरान जो बातें कही जाती हैं, और जो बातें दीक्षा एवं पुनः पुनरावलोकन के समय कही जाती हैं जो क्रमशः स्वाध्याय–तप–ईश्वर प्रणिधान के सार रूप हैं, क्रियावानों के पल्ले बिल्कुल नहीं पड़तीं, उन्हें रंचमात्र भी समझ में नहीं आती । सत्य का खोजी उनके पास अपने विचारों एवं अवधारणाओं के साथ आता है जिन्हें वह विभिन्न पुस्तकों को पढ़कर अपने मस्तिष्क में जमा किए हुए रहता है या आध्यात्मिक मण्डी के तथाकथित अध्यात्मिक जानकारियों का संग्रह लिए रहता है ।

इसीलिए तथाकथित क्रियावान गुरू के उद्‌गारों को सुनता ही नहीं है अपितु उनके उद्‌गारों से केवल उन्हीं बातों को चुनता है जो उसकी पहले की अवधारणाओं के साथ मेल खाती हैं । तब उस क्रियावान द्वारा किया गया क्रिया–अभ्यास यान्त्रिक–कसरत मात्र बनकर रह जाता है । उसके द्वारा उच्च–क्रिया–दीक्षा में बहुत रुचि दिखाई जाती है और वह सभी क्रियाओं में दक्षता प्राप्त करना चाहता है ताकि उसका ''मैं'' स्वयं का महिमामण्डन कर सके, जैसे कि मैंने द्वितीय चरण की दीक्षा ले ली है, मैंने तृतीय चरण की या पाँचवी चरण की दीक्षा ले ली है''।

धिक्, क्या बकवास है? जब क्रियावान प्रयत्न शैथिल्य की अवस्था में सचमुच तैयार हो और उसे आगे की दीक्षा की आवश्यकता हो तब क्या गुरू–प्रक्रिया उसकी चिन्ता नहीं करेगी? क्या इसे देखा नहीं जा सकता कि बिना समझदारी के उच्च क्रिया की कामना करना, क्या मन के षड्यन्त्रों को ही अधिकाधिक मजबूती प्रदान करना नहीं है ? जिस प्रकार कोई व्यक्ति गोबर से भरे पात्र में खीर डाल दे तब खीर भी प्रदूषित और अखाद्य बन जाती है । उसी तरह, यदि मानसिक प्रदूषण विद्यमान हो अर्थात् ''मैं'' गुप्त रूप से छुपा हुआ हो तब किसी भी स्तर का कोई भी क्रिया–अभ्यास क्यों न किया जाय, गुरू द्वारा कितना भी प्यार और आशीर्वाद क्यों न दे दिया जाय – सब मिलकर प्रदूषण ही बन जाते हैं । लेकिन समझदारी की ऊर्जा के अभाव में भला इसे देखा भी कैसे जा सकता है ?

यह अत्यन्त खेद का विषय है और हास्यास्पद भी, कि मन स्वयं को ही धोखा देता है और यह, यह नहीं देख पाता है कि विभिन्न उच्च क्रियाओं को पाने की इच्छा रखने वाला ''मैं'' ही है जो अपनी एक नयी छवि, उच्च क्रियावान के रूप में बनाना चाहता है । और फिर मन ऐसा भी कहता है कि ''मैं तुम्हें १० मिनट में समाधि सीखा सकता हूँ'' और इस तरह वह दूसरों को भी धोखा देता है।

भगवान के लिए, कृपया इसे समझो । कोई उच्च–क्रियावान या निम्न–क्रियावान नहीं होता । व्यक्ति या तो समझदारी की ऊर्जा में होता है या नहीं होता है या तो स्थितप्रज्ञता की ऊर्जा और प्रशांति में होता है, या उससे बाहर होता है; या फिर वह रिक्तता और शून्यता में होता है अथवा उसके विपरीत होता है । अतः यह देखो कि 'स्वाध्याय–प्रक्रिया' समझदारी लाती है या नहीं और तप उस समझदारी को और गहनता प्रदान करता है या नहीं । किन्तु इस समझदारी को किसी अभ्यासवश प्राप्त नहीं किया जा सकता, अपितु यह तो संयोगवश घटित होती है, जिसे हम कृपा कह सकते हैं । हाँ, क्रियायें इसके घटित होने के लिए उपयुक्त परिस्थिति निर्माण करने में सहायक अवश्य सिद्ध होती है । वे पवित्र भी हो सकती हैं, किन्तु वे सदैव साधन मात्र है । गणितीय भाषा में कहें तो वे शायद आवश्यक हैं, किन्तु पर्याप्त नहीं। यह भी देखो कि समझदारी की ऊर्जा यदि घटित हो भी जाती है तब भी उसे हमेशा के लिए स्थायी नहीं माना जा सकता । यदि कृपा प्रदान की जा सकती है तो वह वापस भी ली जा सकती है ।

प्रथम चरण का क्रिया–अभ्यास तथा दिक्षा के तीन सत्रों के दौरान सद्‌गुरु के उद्‌गारों का वास्तविक श्रवण ही व्यक्ति को ''मैं'' से मुक्ति प्रदान करने हेतु पर्याप्त है । सद्‌गुरु बार–बार चिल्लाते हैं – ''स्वाध्याय के साथ की गई क्रिया समझदारी लाती है और स्वाध्याय रहित क्रिया केवल बन्धन बनती है।'' फिर भी कोई सुनता नहीं, ''मैं'' ऐसा बन्धन है कि इससे मुक्ति और इस ''मैं'' के समर्पण की प्रज्ञा का उपलब्ध होना दुर्लभ है । स्वतन्त्रता की हमारी जो अवधारणा है, उसके अनुसार ''मैं'' को स्वतंत्र होना है ताकि वह अहंकार की स्वार्थपूर्ण एवं दुतापूर्ण गतिविधियों में लिप्त रह सके । वस्तुतः समझदारी घटित होने के लिए धैर्य की आवश्यकता है । जब ''मैं'' अक्रियाशील होता है तभी चैतन्य का जागरण होता है।

यह शरीर देख रहा है कि लम्बी हवाई यात्राओं में गुरूजी के शरीर को बहुत कष्ट होता है उसे पर्याप्त विश्राम नहीं मिल पाता, फिर भी वे सम्पूर्ण विश्व में निर्बाध घूमते रहते हैं और करुणा विगलित कंठ से कहते हैं – '' भगवान के लिए सुनो ! किन्तु कोई सुनता नहीं ।''

कोई नहीं जानता कि और कितने 'क' और 'ख' आयेंगे और जायेंगे या, और कितनी बार सद्‌गुरु के विश्वास को धोखा मिलेगा ।

खैर, जीवन को इसकी चिन्ता भी नहीं है । सद्‌गुरू के शरीर में सर्वव्यापी ऊर्जा अर्थात् जीवन की प्रक्रिया अपनी स्वतन्त्रता के साथ कार्य कर रही है । अतः वे भी इसकी चिन्ता नहीं करते । वे तो कत्तव्यपरायण और श्रमनिष्ठ किसान की तरह बस बीज बोये जा रहे हैं । क्योंकि उन्हें पता है कि जब वर्षा होगी और धरती उर्वरी बनेगी तब ये बीज निःसंदेह अंकुरित होंगे, विकसित होंगे, पल्लवित होंगे और फूले–फलेंगे । सम्भव है – 'क' और 'ख' भी विकसित, पल्लवित, पुष्पित और फलित हों ।

गुरुजी का आशीर्वाद तुम्हारे साथ सदा रहे । तुम्हें बहुत–बहुत प्यार ।

तुम्हारा पिता ।

।। जय पिता, जय पुत्र ।।